शोध मंथन, Impact Factor 5.463 (SJIF), UGC No. 40908 ISSN: (P): 0976-5255, (e) : 2454-339X,
202 Available at: *http:/shodhmanthan.anubooks.com/* https://doi.org/10.31995/shodhmanthan

सामाजिक समानता एवं कार्यशील महिलायें

डॉ. मालती
एसोसिएट प्रोफेसर
समाजशास्त्र विभाग
एन. ए. एस. कॉलेज मेरठ

साराशं

महिला–पुरुष समानता के सिद्धान्त को यद्यपि कानून द्वारा मान्यता प्राप्त है। किन्तु, भारतीय सामाजिक व्यवस्था से प्रभावित दृष्टिकोणीय विरोधाभासों में आज भी कतिपय दावे दिए जाते है कि आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक क्षेत्र में महिला भागीदारी आवश्यक नहीं हैं। राष्ट्र की प्रगति एवं विकास के लिए इस प्रकार के पूर्वाग्रह सकारात्मक नहीं माने जा सकते। महिला बनाम पुरुष का एकाकी दृष्टिकोण राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय सन्दर्भ में रचनात्मक विकल्पों की स्थापना में सहायक नहीं हो सकता। यह धारणा कि यदि महिला सार्वजनिक क्षेत्र में भागीदार होगी तो पारिवारिक संगठन बिखर जायेगा, मूलतः विकृत अवधारणा है। महिला द्वारा अर्जित आय परिवार की आर्थिक स्थिति में सहायक ही होगी, इस तथ्य को नकारा नहीं जा सकता। परिवार के स्तर में सुधार होना स्वाभाविक है।

स्वतन्त्रता के पश्चात् शैक्षणिक विकास एवं व्यवस्थात्मक अवसरों के फलस्वरूप अपेक्षाकृत अधिक अनुपात में राष्ट्रीय जीवनधारा में महिलाओं की भागीदारी परिलक्षित होती है। सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्रों में, अपनी योग्यता के आधार पर, महिलाओं ने स्थान तथा उपलब्धियों को प्राप्त किया है। महिला–पुरुष समानता के सिद्धान्त को यद्यपि कानून द्वारा मान्यता प्राप्त है किन्तु भारतीय सामाजिक व्यवस्था से प्रभावित दृष्टिकोणीय विरोधाभासों में आज भी कतिपय दावे दिये जाते हैं कि आर्थिक–सामाजिक सांस्कृतिक एवं राजनीतिक क्षेत्रों में महिला भागीदारी आवश्यक नहीं है। राष्ट्र की प्रगति एवं विकास की समग्रता के लिए इस प्रकार के पूर्वाग्रह सकारात्मक नहीं माने जा सकते। महिला बनाम पुरुष का एकाकी दृष्टिकोण राष्ट्रीय एवं अन्तर–राष्ट्रीय संदर्भ में रचनात्मक विकल्पों की स्थापना में सहायक नहीं हो सकता। नारी स्वतन्त्रता का आन्दोलन पुरुष विरोधी ही हो, आवश्यक नहीं है। ऐसे आन्दोलन का उद्देश्य समानता और न्याय है। नारी की क्षमता और योग्यता का उचित उपयोग सामाजिक अनिवार्यता है। यह धारणा कि यदि नारी सार्वजनिक क्षेत्र में भागीदार होगी तो पारिवारिक संगठन बिखर जाएगा, मूलतः विकृत अवधारणा है। नारी द्वारा अर्जित आय परिवार की आर्थिक स्थिति में सहायक ही होगी, इस तथ्य को नकारा नहीं जा सकता। परिवार के स्तर में सुधार होना स्वाभाविक है। उत्तरोत्तर बढ़ती आवश्यकताओं से पूर्व, पारिवारिक जीवन स्तर हेतु न्यूनतम क्तिीय योगदान भी अपेक्षित है।

पारम्परिक कुटुम्ब व्यवस्था में नारी घर का प्रबन्धन करती थी। वह कार्य सार्वजनिक और सामाजिक दृष्टि से उतना ही महत्वपूर्ण था, जितना कि जीवनयापन के आधार साधनों को जुटाने का पुरुषों का कार्य पितृसत्तात्मक व्यवस्था की स्थापना से इस व्यवस्था में परिवर्तन आया। नारी की पारिवारिक भूमिका की अपेक्षा पुरुष की पारिवारिक भूमिका को सहज ही महत्वपूर्ण मान लिया गया। नारी को सार्वजनिक उत्पादन के क्षेत्र से विलग कर दिया गया। शनैः शनैः नारी परिवार की सेविका मात्र बनती गई। आधुनिक परिवार में भी महिला स्वायत्तता के विषय में व्यापक आंशकायें उचित ही है। अधिकांश परिवारों में जीवनयापन के प्रमुख साधन जुटाने का एकमात्र दायित्व पुरुष पर निर्भर है। अतः परिवार में पुरुष आधिपत्य स्थापित होना स्वाभाविक हो गया। आधुनिक परिवारों में पति की स्थिति बुर्जुबा के समान और पत्नी की सर्वहारा के समान दीख पड़ती है। स्थिति सामान्य तभी हो सकती है जब वास्तविक सामाजिक समानता स्थापित की जाए। पुरुष के विशेषाधिकार समाप्त कर पुरुष और महिला को कानूनी समानता प्रदान करना महत्वपूर्ण एवं निर्णायक प्राथमिकता है जिसके आधार पर महिला वर्ग की उत्तरोत्तर प्रगति सम्भव है।

वास्तविक समानता और न्याय की स्थापना हेतु महिला को परिवार अथवा कुटुम्ब की परिधि में बन्दी बनाये रखना अनुचित एवं असामाजिक है। यद्यपि विगत दशकों में महिलाओं ने सार्वजनिक जीवन में प्रवेश कर महत्वपूर्ण भूमिका निर्वाह किया है किन्तु उसकी पारम्परिक भूमिका को एकाकी महत्व प्रदान करने के फलस्वरुप नारी विकास की अपेक्षा असम्भव है। दूसरी ओर यद्यपि नारी पारिवारिक एवं सार्वजनिक क्षेत्रों में समान भूमिका निर्वाह कर रही है तथापि उसको अधिकृत मान्यता प्रदान नहीं की जा रही है।

कार्यशील महिला की सामाजिक–आर्थिक स्थिति

कार्यशील महिलाओं से भी परिवार की अपेक्षायें वहीं होती है जो एक गैर–कार्यशील गृहिणी से। चाहे नारी परिवार में संलग्न रहे अथवा कार्यशील हो, सामाजिक दृष्टि से परिवर्तन के अभाव में उसके वास्तविक एवं न्यायोचित अधिकारों को अनदेखा किया जाता रहेगा। ऐसी स्थिति में कार्यशील महिला के समक्ष अनेक समस्याएं प्रस्तुत होती है। वह तनाव की स्थिति में रहती है और अनेक उदाहरण ऐसे भी है कि उसे जीविका कार्य छोड़ने का निर्णय लेने हेतु बाध्य होना पड़ता है। ऐसे उदाहरण भी है कि जो महिलाएं विपरीत स्थिति में भी जीविका कार्य का त्याग नहीं करती उन पर अनेक तनावों के कुप्रभावों को भी देखा जाता है। सामान्य अनुभव से भी स्पष्ट होता है कि महिला–पुरुष समानता के सिद्धान्त की व्यावहारिकता हेतु कानूनी मान्यता के साथ ही सामाजिक दृष्टि में मूलभूत परिवर्तन अत्यन्त आवश्यक है। परिवार के सदस्यों को यह स्वीकार करना चाहिए कि महिला का जीविका कार्य उनके व्यक्तित्व के विकास हेतु भी उतना ही आवश्यक है जितना परिवार तथा समाज, एवं अन्ततः राष्ट्र के विकास के लिए भी अनिवार्य है। दैनिक जीवन में अनेक दृष्टान्त ऐसे भी है कि महिला को जीविका कार्य करने की स्वीकृति देकर जैसे पुरुष एवं परिवार उस पर कृपा कर रहे हैं। वैसे भी सामान्यतः महिला पारिवारिक दायित्वों की पूर्ति उसी गाम्भीर्य से करती है जितनी कार्य–स्थल के दायित्वों की। किन्तु यदि

परिवार के सदस्यों की एवं समाज की दृष्टि में सकारात्मक परिवर्तन न हो तो कार्यशील महिला को अपेक्षित संवेदनशील वातावरण एवं प्रेरणादायक स्थितियों से भी वंचित रहना पड़ता है। इस प्रकार की स्थिति में महिला को प्राकृतिक न्याय की प्राप्ति कल्पना मात्र ही रहेगी। सामाजिक परिवर्तन की समग्र के फलस्वरूप ही इस दिशा में प्रभावी एवं स्थायी, उपलब्धियां सम्भव है।

समसामयिक इतिहास एवं घटनाक्रम में भारत–विभाजन एवं स्वतंत्रता के परिणामस्वरूप सीमा पार से आये परिवारों की प्रक्रिया में बिखराव एवं नव–चुनौतियों के दुष्परिणाम अभिव्यक्त हुए। मनोवैज्ञानिक एवं पारिवारिक व्यवस्था के असंतुलन को आर्थिक अनिश्चितता ने और भी अधिक विकृत बना दिया। विस्थापित परिवारों के सभी सदस्यों को अनुभव हुआ कि प्रत्येक को अपनी–अपनी क्षमतानुसार न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु योगदान देना होगा। इसी कारण पुरुष एवं बाल्य सदस्यों की भांति महिला ने भी पारम्परिक बन्धनों को त्याग कर जीविका कार्य की अनिवार्यता को स्वीकारा। यह स्थिति केवल आपात निर्णय न बनी रहकर स्वाभाविक वास्तविकता में परिणित हो गई एवं व्यापक पैमाने पर विस्थापित महिलाओं के साथ–साथ अन्य परिवारों की महिलाओं ने भी जीविका कार्य की सकारात्मकता को स्वीकारा। इस प्रक्रिया में स्पष्ट है कि यदि राष्ट्रीय आन्दोलन में महिला की भूमिका को बढ़ावा मिला तो समयान्तर से राजनीतिक उथल–पुथल के परिणामस्वरूप महिला ने जीविका कार्य की चुनौतियों को न केवल स्वीकारा बल्कि अपने योगदान को स्तरीय महत्ता प्रदान करने में भी सफलता प्राप्त की। स्वतन्त्रता के पश्चात् के दशकों में शिक्षा प्रसार एवं जीविका कार्यस्थलों की निरन्तर वृद्धि का लाभ महिला को भी मिला।

एक बार पारिवारिक परिधि से बाहर आकर महिला ने जब जीविका कार्य का रचनात्मक निर्वाह किया तो स्वाभाविक हो गया कि वह इस परिवर्तित संदर्भ के लाभ से वंचित नहीं होना चाहती थी। वैयक्तिक, मनोवैज्ञानिक एवं आर्थिक उपलब्धियों से परिचित एवं लाभान्वित होकर, महिला को अपनी क्षमता, योग्यता एवं भूमिका में अस्मिता रक्षण एवं आर्थिक आत्मनिर्भरता परिलक्षित हुई। चाहे सीमित रुप में ही, किन्तु महिला ने व्यापक रुप से परिवार से परे के वातावरण एवं दायित्वों को परखा एवं अपनी भागीदारी एवं योगदान के प्रति उसका आश्वस्त होना स्वाभाविक हो गया। आत्मविश्वास के इन नवीन अनुभवों ने महिला का मार्ग निर्देशन किया।

यदि महिला को कार्य एवं कार्यस्थल सम्बन्धी उचित वातावरण उपलब्ध नहीं होता तो निराशा एवं उझिनता स्वाभाविक है। वैयक्तिक असंतोश में वृद्धि भी उतनी ही स्वाभाविक है जिसकी परिणति सामाजिक आक्रोश में व्यवस्थित होना भी अन्ततः स्वाभाविक है। यदि परिवार की दृष्टि महिला को कार्यशील दायित्वों से वंचित रखती है तो क्लेश को बढ़ावा मिलता है। परिवार के विघटन एवं असंतोश की आंशका इस प्रकार के उदाहरणों में निहित है। महिला यदि कार्यशील बनने को दृढ हो तो उसे वंचित रखकर स्थिति को सुधारने की आशा भी अनुचित है। यदि महिला, सकारण अथवा अकारण, इस प्रकार की आंशका से पीड़ित हो कि परिवार सचेष्ट रूप से उसके स्वाभाविक व्यक्तित्व विकास में बाधक बन रहा है तो महिला की उदासीनता एवं

पार्थक्य का प्रसार स्वाभाविक है। इस प्रकार की परिस्थिति में न केवल महिला भुक्तभोगी की स्थिति से मुक्त हो सेकगी वरन पारिवारिक वातावरण एवं अन्तरक्रिया पर भी नकारात्मक प्रभाव बने रहेंगे।

महिला रोजगार आधुनिक सामाजिक आवश्यकता एवं पारिवारिक अर्थतन्त्र सतुलन की पूर्ति में सहायक है। देश की आधारभूत कृशि–अर्थव्यवस्था में महिला की भूमिका एवं कार्य, पुरुष से भिन्न चाहे दीख पड़ते हो किन्तु वे समान रूप से महत्वपूर्ण है। महिला सदैव पुरुष के साथ घर से बाहर कार्य करती आई है। वह अर्थव्यवस्था का महत्वपूर्ण अंग रही है। परिवार, खेत–खलिहान एवं लघु उद्योग प्रयासों में महिला की अनिवार्य पारम्परिक, कार्यशील भूमिका रही है एवं किसी प्रकार परिवर्तन नहीं हुआ है। दूसरी ओर, वर्तमान वातावरण में इस संदर्भ में महत्वपूर्ण परिवर्तन देखे जा सकते हैं। यदि विगत परिस्थिति में महिला के पारिवारिक एवं पुरुष प्रधान कार्यस्थल सम्बन्धी दायित्वों की पूर्ति महिला की समर्पित भावना एवं कर्तव्यपूर्ति से जोड़ी गई तो वर्तमान में कार्यशील भूमिका निर्वाह के परिणामस्वरूप महिला, वेतन एवं पारिश्रमिक के माध्यम से, परिवार की आर्थिक स्थिति मे सकारात्मक बढ़ोतरी में सहायक बनने में समर्थ है। विगत भूमिका महिला के श्रम एवं सहयोग पर आधारित थी। वर्तमान भूमिका में महिला द्वारा न केवल वैयक्तिक बल्कि पारिवारिक स्वावलम्बन के प्रभावी आयाम परिलक्षित है। महिला के व्यक्तित्व विकास में सहायक तत्वों को यदि सामाजिक समर्थन प्राप्त हो तो अवश्य ही दूरगामी परिणाम अपेक्षित होंगे।

शिक्षित महिलाओं द्वारा आर्थिक आत्मनिर्भरता को प्राथमिकता देना स्वाभाविक है। संक्रमणकाल में कार्यशील महिलाओं को पारिवारिक प्रतिरोध एवं सामाजिक संशय का सामना करना पड़ा। वैसे भी सामान्य घटनाक्रम में कार्यशील महिला को रोजगार और विवाह में से किसी एक का चयन, कई बार, विवशतावश करना पड़ा क्योंकि मूलतः महिला की नवीन भूमिका को सामाजिक स्वीकृति नहीं दी गई।

हाटे (1930 एवं 1946), देसाई (1945), नारायन (1967) के अनुसार जो महिलाएं विशेष पदों पर नियुक्त होती थीं, उन्हें विवाह करने की अनुमति नहीं थी। इस प्रकार के सेवानियमों में पूर्वाग्रह था कि वैवाहिक स्थिति और रोजगार का मेल ना तो व्यावहारिक है एवं न ही स्वीकार्य। स्वतन्त्रता के प्रथम दशक में अनेक सरकारी सेवाओं में विवाहित महिलाओं की नियुक्ति नहीं की जाती थी, उदाहरणार्थ, आई. एफ. एस. एवं वायु परिचारिका सेवा। वर्तमान में इन शर्तो में परिवर्तन कर दिया गया है। सरकारी दृष्टिकोण के साथ ही सामाजिक दृष्टिकोण में भी परिवर्तन के लक्षण स्पष्ट दीख पड़ते हैं। स्मरणीय है कि प्रारम्भ में महिला द्वारा रोजगार करना परिवार के पुरुष के लिए लज्जा की बात मानी जाती थी, किन्तु कालान्तर में आर्थिक आवश्यकताओं के अनुसार महिला रोजगार के विषय में सकारात्मक दृष्टिकोण देखे गये। प्रमिला कपूर (1960 एवं 1970), कपाड़िया (1959), देसाई (1957), हैट (1948 एवं 1969) एवं सेनगुप्ता (1960) के अध्ययनों में देखा गया कि पति एवं परिवार के अन्य सदस्य महिला रोजगार को स्वीकृति देने लगे। साथ ही महिला उच्च शिक्षा एवं रोजगार के प्रति भी दृष्टिकोण में परिवर्तन हुए।

वर्तमान परिस्थितियों में यद्यपि आर्थिक दबावों के कारण महिला रोजगार को सामाजिक स्वीकृति मिल गई है किन्तु अनौपचारिक वार्ता एवं साक्षात्कार से परिलक्षित होता है कि कार्यशील महिला के दोहरे दायित्वों में कमी नहीं आई है। परिवार में एवं कार्यस्थल के निरन्तर बढ़ते दायित्वों के प्रति, किसी भी दिशा से, प्रभावित महिला को संवेदनशील सकारात्मक समर्थन नहीं मिला है।

ग्रामीण क्षेत्र की पृष्ठभूमि वाली महिलाओं की स्थिति का प्रमुख कारण यह है कि उस क्षेत्र में सामान्यतः परम्पराएं एवं दृष्टिकोण वांछनीय नहीं। साथ ही अवसर भी अति सीमित है। महिला मूलतः परिवार एवं पारिवारिक धंधे से ही सम्बद्ध है। ग्रामीण क्षेत्र में उच्च शिक्षा की व्यवस्था नहीं होने के फलस्वरूप उच्च शिक्षा की इच्छुक महिला को शहर में जाना अनिवार्य हो जाता है। ग्रामीण महिला–पुरुष समानता के सिद्धान्त को यद्यपि कानून द्वारा मान्यता प्राप्त है। किन्तु, भारतीय सामाजिक व्यवस्था से प्रभावित दृष्टिकोणीय विरोधाभासों में आज भी कतिपय दावे दिए जाते है कि आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक क्षेत्र में महिला भागीदारी आवश्यक नहीं हैं। राष्ट्र की प्रगति एवं विकास के लिए इस प्रकार के पूर्वाग्रह सकारात्मक नहीं माने जा सकते। महिला बनाम पुरुष का एकाकी दृष्टिकोण राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय सन्दर्भ में रचनात्मक विकल्पों की स्थापना में सहायक नहीं हो सकता। यह धारणा कि यदि महिला सार्वजनिक क्षेत्र में भागीदार होगी तो पारिवारिक संगठन बिखर जायेगा, मूलतः विकृत अवधारणा है। महिला द्वारा अर्जित आय परिवार की आर्थिक स्थिति में सहायक ही होगी, इस तथ्य को नकारा नहीं जा सकता। परिवार के स्तर में सुधार होना स्वाभाविक है। उत्तरोत्तर बढ़ती आवश्यकताओं से पूर्व, पारिवारिक जीवन स्तर हेतु न्यूनतम वित्तीय योगदान भी अपेक्षित है।

महिला और सामाजिक समानता

पारस्परिक कुटुम्ब व्यवस्था में महिला घर का प्रबन्धन करती थी। यह कार्य सामाजिक एवं सार्वजनिक दृष्टि से उतना ही महत्वपूर्ण माना जाता था जितना जीवनयापन के आधारभूत साधनों को जुटाने का पुरुषों का कार्य। पित सत्तात्मक व्यवस्था की स्थापना से इस व्यवस्था में परिवर्तन आया। महिला की पारिवारिक भूमिका की अपेक्षा पुरुष की पारिवारिक भूमिका को सहज ही महत्वपूर्ण मान लिया गया। महिला को सार्वजनिक उत्पादन के क्षेत्र से विलग्न कर दिया गया। शनैः शनैः महिला परिवार की सेविका मात्र रह गई। आधुनिक परिवारों में पति की स्थिति बुर्जुआ के समान और पत्नी की सर्वहारा के समान हो गई। स्थिति सामान्य तभी हो सकती है जब वास्तविक समानता स्थापित की जाए। पुरुष के विशेषाधिकार समाप्त कर दोनों को समानता का दर्जा दिया जाए। सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण एवं निर्णायक तत्व है कि सम्पूर्ण महिला वर्ग पुनः सार्वजनिक उत्पादन में प्रवेश करें।

विगत दशकों में रोजगार के अवसरों की बढ़ोतरी, महिला क्षमता तथा कौशल की स्वीकार्यता एवं शैक्षिक अवसरों की उपलब्धि के फलस्वरूप महिला वर्ग को नवीन, अवसर अवश्य ही प्राप्त हुए हैं। महिलाओं के प्रति सामाजिक दृष्टि में परिवर्तन के साथ ही उनको अपेक्षाकृत अधिक सकारात्मक अवसर भी उपलब्ध हुये है। इस प्रक्रिया के दूरगामी प्रभावों को नकारा नहीं जा सकता। महिला ने सार्वजनिक जीवन में प्रवेश कर महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है।

किन्तु उसकी पारम्परिक भूमिका को एकाकी महत्व प्रदान करने के फलस्वरूप नारी विकास की अपेक्षा असम्भव है। दूसरी तरफ, यद्यपि महिला पारिवारिक एवं सार्वजनिक क्षेत्रों में समान भूमिका निर्वाह कर रही है तदापि उसको अधिकृत मान्यता प्रदान नहीं की जा रही है। कार्यशील महिलाओं से भी परिवार की अपेक्षाएं वही होती हैं जो एक ग़ैर–कार्यशील गृहिणी से। अतः महिला चाहे कार्यशील हो अथवा नहीं सामाजिक दृष्टि में परिवर्तन के अभाव में उसके वास्तविक एवं न्यायोचित अधिकारों को अनदेखा किया जाता रहेगा। महिला की दोहरी भूमिका के विषय में तो किसी भी स्थिति में मूल परिवर्तन नहीं हुए हैं।

ऐसे अनेक उदाहरण है कि समान क्षमता एवं योग्यता के बावजूद महिला कर्मचारी को की तुलना में समान कार्य के लिए भी असमान वेतन मिलता है। महिला को मूलतः पुरुष निम्न क्षमतावान माना जाता है। महिलाओं की अपेक्षा पुरुष कर्मियों की भर्ती को प्राथमिकता दी जाती है। विवाहित महिलाओं को अनेक बाध्यकारिताओं से पीड़ित माना जाता है। कार्यस्थल को इस प्रकार के पूर्वाग्रहों से प्रभावित देखा जा सकता है। इसी संदर्भ में एक अन्य पक्ष को भी इंगित करना अपेक्षित है। भारतीय सामाजिक दृष्टि में महिला को सम्पूर्ण स्वायत्तता की स्वीकृति में संकोच तो है ही, महिला द्वारा कार्यशीलता के प्रयासों को‌ अधिकार‌ की अपेक्षा‌ आवश्यकता‌ मात्र माना जाता है। अर्थात आर्थिक दबावों के फलस्वरूप मजबूरी में महिला को जो स्वतन्त्रता दी जाती है वह सम्पूर्ण नहीं है। कार्यशील स्थिति एवं भूमिका निर्वाह के बावजूद महिला को पुरुष के समान अधिकारों का भागीदार मानने में संशय एवं प्रतिरोध बना हुआ है। ऐसी परिस्थिति में शिक्षित कार्यशील महिला की स्थिति शोचनीय बन जाती है।

स्वतन्त्रता एवं नियन्त्रण, समानता एवं निम्नता के इस विरोधाभास में कार्यशील महिला को अनेक चुनौतियों का सामना करना पड़ता है। अनुभव एवं पर्यवेक्षण के आधार पर देखा गया कि ज्यादातर कार्यशील महिलाएं गतिरोध एवं तनाव पर नियन्त्रण पाने हेतु या तो अपनी स्वाभाविक स्वायतता के मूल्य पर समझौता करती है, अथवा पश्चिमीकरण की नकल कर ऐसी स्वतन्त्रता की पक्षधर हो जाती है जो स्वच्छन्दता के अधिक निकट है।

भारत में उन्नीसवीं सदी के अन्तिम चरण से आर्थिक क्षेत्र, व्यवसाय एवं व्यापार में महिलाओं का स्थान महत्वपूर्ण बनता जा रहा है। निम्न वर्ग की महिलाओं ने तो आर्थिक मंहगाई के कारण विवश होकर मजदूरी प्रारम्भ की। उन्नीसवीं सदी में महिला कृषि कार्य करती थी। किन्तु मध्यवर्गीय महिला का व्यवसाय में प्रवेश विलंब से हुआ। मध्यवर्गीय महिला ने प्रारम्भ में शिक्षक का कार्य किया। आर्थिक विकास के साथ ही महिलाओं की व्यवसायिक गतिविधियां भी बढ़ती गई। शिक्षा के प्रचार के कारण प्रशिक्षणयुक्त व्यवसायों में भी महिलाओं की प्रवेश संख्या उत्तरोत्तर बढ़ने लगी। विशेषतः शिक्षित, मध्य तथा उच्च वर्ग की महिलाएं जब श्रम क्षेत्र में प्रविष्ट होती है तब समाज को बहुत अधिक आघात पहुंचता है। इस वर्ग की सक्रियता एवं जागृति का प्रभाव अन्य सामाजिक सम्बन्धों पर भी पड़ा इस पृष्ठभूमि में यह प्रश्न उठता है कि महिलाओं का क्या कर्तव्य होना चाहिए, गृहस्थी संभालना, बालकों की देखभाल या फिर रोजगार हेतु श्रम क्षेत्र में प्रवेश? चर्चा का यह विषय भारत ही में नहीं वरन् सम्पूर्ण विश्व में विवादास्पद बन रहा है।

श्रम बाजार में महिला के प्रवेश से जो विशष स्थिति उत्पन्न हुई है, नीरा देसाई उसका बहुत ही स्पष्ट चित्रण करती है। देसाई के अध्ययनानुसार अधिकांश महिलाएं कृषि एवं उससे सम्बन्धित व्यवसायों में लगी है, उद्योगों में वे अकुशल श्रमिक का कार्य करती है। महिलाओं में शिक्षा एवं प्रशिक्षण की मात्रा इतनी कम है कि उच्च पदों पर बहुत कम महिलाएं है। परिणामस्वरूप जैसे यंत्रीकरण बढ़ता है वैसे–वैसे महिला कर्मचारियों की मांग घटती जाती है। किन्तु शिक्षा एवं स्वतन्त्रता के फलस्वरूप जो कार्य लैंगिक विभाजन के आधार पर महिलाओं के कार्य समझे जाते थे उसमें अकुशल के स्थान पर कुशल एवं प्रशिक्षण प्राप्त महिलाओं को स्थान दिया जाने लगा।

विशेष रूप से भारतीय संदर्भ में कार्यशील महिलाओं हेतु तनावमुक्त, स्वस्थ एवं संतोशप्रद कार्य वातावरण निर्माण के लिए सामान्यतः दो दृष्टिकोण क्रियाशील है। प्रथम, कार्य विभाजन के परम्परागत दृष्टिकोण का पुनः निश्चयन करना आवश्यक है। पारिवारिक दायित्व एवं विशेष कर बच्चों का पालन, जो पारम्परिक विभाजन में महिला के कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत माने गये, पति एवं पत्नी, दोनों के सामूहिक कार्य माने जाएं भारतीय समाज के परम्परागत स्वरुप और पुरुष वर्ग की दृष्टि में आधारभूत परिवर्तन द्वारा ही इस दिशा में किसी प्रकार की प्रगति सम्भव है। सामान्यतः पति का दृष्टिकोण यही रहता है कि पारिवारिक दायित्व निर्वाह और बच्चों के पालन की जिम्मेदारी महिला की है जिसकी पुष्टि नैतिकता और सामाजिक परम्परा के आधार पर करने मात्र से परिस्थिति में मूलभूत परिवर्तन लाना सम्भव नहीं है।

इस सम्बन्ध में दूसरा दृष्टिकोण है कि कार्यशील महिला को विशिष्ट कामकाजी समूह का स्तर प्रदान कर, महिला कर्मचारी की स्थिति एवं आवश्यकताओं के अनुकूल कार्य–स्थल की सेवा शर्तो एवं सुविधाओं की पुनः विवेचना की जाये। आवश्यकतानुसार आवास, कार्य–स्थल, यातायात एवं अन्य सम्बद्ध सुविधाओं की उपलब्धि कराई जाए। बच्चों की उचित देखभाल के लिये बालगृहों की स्थापना हो। इस दृष्टिकोण में कार्यशील महिला को आवश्यक सुविधाओं की उपलब्धि कराना किसी प्रकार सेै अतिरिक्तै प्रयास अथवा अनुकम्पा नहीं माना जा सकता क्योंकि महिला की लाक्षणिकता अनुसार न्यूनतम स्थापना न्यायोचित ही है।

सन्दर्भ

1. प्रमिला कपूर, दी चेजिंग स्टेट्स ऑफ दी वर्किग वुमेन इन इण्डिया, दिल्ली, विकास प्रकाशन,1970, पृः 27
2. डिसूजा अल्फ्रेड, (स)ः वीमेन इन कनटेम्पोरेरी इडिया , ट्रेडिशनल इमेज एण्ड चेजिंग रोल्स, दिल्ली, मनोहर प्रकाशन, 1975, पृः 12
3. स्वप्निल सारस्वत, महिला विकास, दिल्ली, नमन प्रकाशन, 2005, पृः 119
4. सपना सचदेव, सुनीता मलहोत्रा,2006, वर्किंग वुमेन, कामनवेल्थ पब्लिशर्स, पृः 21
5. सुजाता सेन, जेण्डर स्टडीज, पियर्सन, दिल्ली, 2012, पृः 73–82
6. वी. गीता, स्त्रीवाद की सैद्धातिकी , जेंडर विमर्श, दिल्ली, प्रकाशन संस्थान २०18, पृः 27